मातृदेवो भव (मातृसंस्था और उसकी गरिमा)

श्रीमती प्रतिभा गर्ग
जोधपुर

अन्य अनेक देशों की तरह भारत भी प्रमुखतः पुरुष-प्रधान समाज व्यवस्था का देश रहा है। इसीलिए यहाँ सामान्यतः स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों का अधिक महत्व माना जाता रहा है। पिता के नाम से वंश चलता है और आर्थिक एवं सामाजिक नियंत्रण भी अधिकांशतः पुरुषों के हाथ में रहा है। इसके बावजूद इस उपदेश में जिन्हें देवता माना जाना है उनमें सर्वप्रथम माता का उल्लेख करना तथा पिता, गुरु और अतिथि का नाम बाद में लेना इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि माता का महत्व हमारी संस्कृति में सर्वोपरि माना गया है।

मातृ देवो भव। पितृ देवो भव। आचार्य देवो भव। अतिथि देवो भव।

इसका प्रमुख कारण तो यही है कि माता ही पुत्र में शैशव काल से ही वे संस्कार डालती है जो पूरे जीवन के लिए उसके व्यक्तित्व का निर्माण करते है। शैशव में अक्षरज्ञान भी मूलतः माता ही कराती है, चाहे हमारे यहाँ यह प्रथा वर्षों से चल रही हो कि विद्याभ्यास या अक्षरारंभ का संस्कार किसी पहुँचे हुए विद्वान या गुरु के हाथों कराया जाता हो । वह केवल संस्कार का प्रारम्भ मात्र है। शिशु को चलना, पढ़ना और लिखना प्रमुखतः माता ही सिखाती है। इस दृष्टि से शिक्षा का सर्वप्रथम स्रोत होने के कारण माता का महत्व उन सभी संस्कृतियों में माना जाता है जिनमें शिक्षा को सर्वाधिक महत्व दिया जाता है। हमारे स्मृतिकार मनु को कुछ लोग रूढ़ियों का जन्मदाता तथा पुराने विचारों का मानते हैं किन्तु मनु ने मनुस्मृति में जहाँ नारी को अन्य अनेक क्षेत्रों में समुचित महत्व दिया है वहाँ कुछ क्षेत्रों में तो उसे मूर्धन्य स्थान पर ही बिठा दिया है। मनु जैसा प्राचीन स्मृतिकार जब यह कहता है कि शिक्षा की दृष्टि से अध्यापक और गुरु से अधिक महत्व पिता का होता है और पिता से हजार गुना ज्यादा महत्व माता का होता है, तो माता का गौरव स्पष्टतः समझा जा सकता है। मनु स्मृति का वाक्य है -

उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता ।
सहस्रं तु पितृन् माता गौरवेणातिरिच्यते ।।

अर्थात् जो केवल पढ़ा देता है उस अध्यापक से दस गुणा है आचार्य जिसके गुरुकुल में रह कर आप शिक्षा पाते हैं किन्तु ऐसे सौ आचार्यों के बराबर एक पिता होता है जिसकी शिक्षा जीवन भर चलती है परन्तु पिता से हजार गुणा बढ़कर महत्व है माता का। क्योंकि माता ही प्रारम्भ में संस्कारों की नींव डालती है। प्राचीनकाल में भी माता का महत्व था, मध्यकाल में भी रहा और आज भी प्रत्येक दृष्टि से समाज में यह महत्व विद्यमान है।

प्राचीन भारतीय समाज में गोत्र ऋषियों के नाम से चलते थे और वंश पिता के नाम से, यह कहा जा चुका है। किन्तु कुछ ऐसे उदाहरण भी मिलते है जहाँ माता के नाम से पुत्र को जाना गया है। इसका सुप्रसिद्ध उदाहरण है 'सत्यकाम जाबाल' जो अपनी माता जबाला का पुत्र होने के कारण जाबाल कहा गया। पहले भी गुरुकुल प्रवेश के लिए पिता का नाम लिखना उसी प्रकार आवश्यक होता था जैसे आजकल स्कूल में प्रवेश के लिए पिता का नाम लिखना आवश्यक होता है। शिशु सत्यकाम को पढ़ने की ललक थी किन्तु उसे पिता का नाम मालूम नहीं था। गुरुकुल प्रवेश के लिए पिता का नाम पूछा गया तो उसने आपनी माता जबाला से पिता का नाम जानना चाहा। जवाला ऋषियों तथा अतिथियों की चाकरी करके पेट पालती थी और नितान्त निर्धन किन्तु सत्यनिष्ठ थी। उसने अपने पुत्र से बेझिझक कह दिया कि 'बेटे, मैं तो बड़े लोगो की सेवा करके पेट पालती हूँ, मुझे स्वयं तुम्हारे पिता का नाम ज्ञात नहीं है।' यही बात सत्यकाम ने गुरुकुल में आकर बताई तो दुत्कारने की बजाय आदरपूर्वक सत्यपारशी गुरु ने यह कहकर उसे प्रवेश दिया कि इस प्रकार निर्भीकता से सत्य बोलने वाली माता कभी कलंकिनी नहीं हो सकती और इस प्रकार का सत्यनिष्ठ बालक ब्राह्मण के अलावा और किसी का अंश नहीं हो सकता। वह बाल गुरुकुल में पढ़कर विद्वान् बना और उसने अपना वंश नाम माता के नाम पर 'जबाला' रखा। वह सत्यकाम जाबाल आजतक इतिहास में अमर है।

माता की यह महिमा हमारी संस्कृति का एक विलक्षण आयाम है। देवताओं की सूची में भी जिस प्रकार विष्णु, शिव, राम, कृष्ण आदि पुरुष है उसी प्रकार पार्वती, लक्ष्मी, दुर्गा, सरस्वती आदि देवियाँ भी पूज्य है। पार्वती कार्तिकेय और गणेश की माता के रूप में भी उतनी ही पूज्य है जितनी शिव की पत्नी के रूप में। पुराणों में इस बारे में एक बड़ा दिलचस्प प्रसंग मिलता है। एक बार शिव परिवार के दोनों बालक कार्तिकेय और गणेश आपस में खेल रहे थे और एक दूसरे की स्पर्धा में कौन जीता, कौन हारा इस पर विवाद कर रहे थे। भगवान शिव ने दोनों में तारतम्य का फैसला करने के लिए विनोद में कह दिया कि दोनों में जो पृथ्वी की परिक्रमा करके पहले लौट आएगा उसे जीता माना जाएगा। इस पर

कार्तिकेय तुरन्त पृथ्वी परिक्रमा करने दौड़ गए किन्तु गणेश थोड़ी देर विचार करके वहीं बैठी अपनी माता पार्वती की परिक्रमा कर आए और पिता से बोले मैं पहले पृथ्वी परिक्रमा कर आया हूँ अतः जीत गया। माता ही पृथ्वी स्वरूपा होती है। इस बात का शिव ने समर्थन किया और गणेश विजयी हुए। यह प्रसंग प्रमाणित करता है कि जिस प्रकार पृथ्वी बीज धारण करती है और समस्त प्रजा का पालन करती है उसी प्रकार माता जन्म देने और पालन करने के कारण महिमामयी है। तभी माता का सर्वाधिक आदर हमारी संस्कृति में रहा है। रामायण और महाभारत दोनों में माताओं का स्थान उतना ही महत्व का माना जाता है जितना पिता का। राम के लिए कौशल्या ही नहीं कैकयी और सुमित्रा भी नितान्त वंदनीय रही, यह सभी जानते हैं। पांडवों को जब वनवास के लिए जाना पड़ा तो उनकी माता कुन्ती बराबर उनके साथ रहीं। उसका आदेश सदा पुत्रों के लिए शिरोधार्य रहा। ये माताएं इतनी प्रबुद्ध एवं विवेकशालिनी थीं कि राजनीति को भी दिशा देती थीं। देवव्रत की माता सत्यवती ने तो पूरे वंश का मार्गदर्शन कर उसे चलवाया अन्यथा कुरु वंश ही नहीं चलता।

महाभारत में ऐसी अनेक माताओं के प्रसंग आते हैं जिन्होंने अपने पुत्रों को अप्रतिम शिक्षाएँ देकर जीवन में सफलता की ओर अग्रसर किया। वीरपूजा के देशों में सदा रणांगण में जूझने का, युद्ध से पलायन न करने का, विजय के लिए मृत्यु की भी परवाह न करने का, जीवन मूल्य सर्वाधिक महत्व का होता है। राजस्थान में तो प्रसिद्ध है।

'पूत सिखावै पालणे मरण बडाई माय।'

माताएँ पुत्र में प्रारम्भ से ही योद्धाओं के गुण कूट-कूट कर भरती हैं। ऐसी ही माता थी विदुला, उसका पुत्र संजय सिंधुराज के विरुद्ध युद्ध में गया पर हारकर लौट आया और घर में आ छिपा। इस पर उसकी माता विदुला ने उसे धिक्कारते हुए शौर्य, पौरुष, तेजस्विता का जो उपदेश दिया वह इतना मार्मिक और ओजस्वी है कि आज भी उसे पढ़कर शिराओं में रक्त खौलने लगता है। महाभारत के उद्योग पर्व में अनेक अध्यायों में यह प्रसंग वर्णित है। इसमें विदुला जिस प्रकार पुरुषार्थ, उद्यम और उत्साह का संदेश देती है वह विश्व साहित्य में अद्वितीय है। वह कहती है कि वीर केवल एक बार मरता है कायर प्रतिदिन हजारों बार मरता रहता है। उसका एक वाक्य तो इतना प्रेरणादायक है कि विद्वानों के लिए मुहावरा बन गया है -

मुहूर्तं ज्वलितं श्रेयो न च धूमायितं चिरम्।
अलातं तिन्दुकस्येव मुहूर्तमपि हि ज्वल।
मा तुषाग्निरिवानार्चिर्धूमायस्व जिजीविषुः ।।

अर्थात् एक क्षण के लिए भी धू-धू करके जलना और आलोक छोड़ जाना कहीं अच्छा है बजाय घंटों धुंआ देते हुए सुलगते रहने और आग न पकड़ पाने के। इस विदुला-संजय संवाद में जिस शैली से पुरुषार्थ की प्रेरणा दी गई है वह इतिहास में उल्लेखनीय तो है ही, उससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि माताएँ

केवल वात्सल्य की निधि ही नहीं होतीं, त्याग और उत्सर्ग की प्रेरणा भी देती थीं। इस प्रकार की माताओं की परंपरा प्राचीनकाल में ही रही हो सो बात नहीं है। मुगलकाल में भी शिवाजी की माता जीजाबाई का उदाहरण हमारे सामने है। वे शिवाजी को न केवल अपने पारिवारिक निर्णयों में मार्गदर्शन देती थीं बल्कि राजनीति और युद्ध कला में भी शिवाजी उनकी सलाह के बिना कोई काम नहीं करते थे।

* जिस प्रकार कुछ प्राचीन संस्कृतियों में कन्या के महत्व के आधार पर कन्या पूजा या वर्जित वर्शित प्रचलित है उसी प्रकार भारत में मातृपूजा देवपूजा का अंग है। कोई भी धार्मिक कार्य षोडश मातृकाओं अर्थात् सोलह माताओं की पूजा के बिना पूरा नहीं होता है। इन माताओं में सर्वप्रथम है गौरी और अंन्तिम हैं अपने वंश की कुलदेवी। माताओं की यह पूजा मूलतः पुत्र के लिए माता के महत्व पर आधारित है। तभी तो अपनी उपास्य देवी को माता मानकर उपासक पुत्र के रूप में उसकी पूजा करते हैं। शक्ति पूजा की परंपरा में चाहे आप काली की पूजा करें, दुर्गा की करें, लक्ष्मी की या सरस्वती की, उसे माता मानकर ही स्तोत्र पाठ किया जाता है। शंकराचार्य के नाम से देवी का एक स्तोत्र प्रसिद्ध है जिसे क्षमापन स्तोत्र कहते हैं। इसमें शंकराचार्य कहते हैं कि आपकी सेवा में मैं कुछ नहीं कर पाया, न मैं कमाऊ पूत की तरह आपको धन समर्पित करता हूँ न चरण सेवा करता हूँ फिर भी आपका यह अविचल स्नेह बराबर बना हुआ है। यह इस बात का प्रमाण है कि पुत्र चाहे कुपुत्र हो जाए किन्तु माता कुमाता कभी नहीं होती। इस स्तोत्र का यह वाक्य बहुत प्रचलित हो गया है - कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति।

शिखरिणी छंद में निबद्ध तीन पद्य इसी वाक्य से समाप्त होते है। एक पद्य इस प्रकार है:-

जगन्मातर्मातस्तव चरणसेवा न रचिता
न वा दत्तं देवि द्रविणमपि भूयस्तव मया।
तथापि त्वं स्नेहं मयि निरुपमं यत् प्रकुरुषे
कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।।